या रुकावट खड़ी होती है और अशक्य रूढ़ आचारोंमें रसवृत्ति उत्पन्न होनेके बजाय हमेशाके लिए उनसे अरुचि हो जाती है। मेरी दृष्टिसे प्रत्येक संस्थामें उपस्थित होनेवाले धार्मिक शिक्षाके प्रश्नका हल यह हो सकता है—

(१) प्रत्येक क्रियाकाण्डी अथवा रूढ़ शिक्षा ऐच्छिक हो, अनिवार्य नहीं।

(२) जीवनके सौरभके समान सदाचरणकी शिक्षा शब्दोंसे देनेमें ही सन्तोष नहीं मानना चाहिए और ऐसी शिक्षाकी सुविधा न हो, तो उस विषयमें मौन रहकर ही सन्तोष करना चाहिए।

(३) ऐतिहासिक तुलनात्मक दृष्टिसे धर्मतत्त्वके मूलभूत सिद्धान्तोंकी शिक्षाका विद्यार्थियोंकी योग्यताके अनुसार श्रेष्ठतम प्रबंध होना चाहिए। जिस विषयमें किसीका मतभेद न हो, जिसका प्रबंध संस्था कर सकती हो और जो भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंकी मान्यताओंको मिलानेमें सहायक तथा उपयोगी हो और साथ ही साथ मिथ्या भ्रमोंका नाश करनेवाली हो वही शिक्षा संस्थाओंके लिए उपयोगी हो सकती है।

अनु०—**मोहनलाल मेहता**

विद्याकी चार भूमिकाएँ *

भाइयो और बहनो,

आप लोगोंके सम्मुख बोलते समय यदि मैं प्रत्येक व्यक्तिका चेहरा देख सकता या शब्द सुनकर भी सबको पहचान सकता तो मुझे बड़ा सुभीता होता। सुबद्धतिसे अथवा वैज्ञानिक ढंगसे काम करनेकी जैसी शिक्षा आपको मिली है, वैसी मुझे नहीं मिली, इसलिए मुझे बिना शिक्षाके इधर-उधर भटकते हुए जो मार्ग दिखाई दे गया, उसीके विषयमें कुछ कहना है। जिस व्यक्तिने अन्य मार्ग देखा ही न हो और जो पगडंडी मिल गई उसीसे जंगल पार किया हो वह केवल अपनी पगडंडीका ही वर्णन कर सकता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि दूसरी पगडण्डियाँ हैं ही नहीं, अथवा हैं तो उससे घटिया या हीन हैं। दूसरी पगडंडियाँ उससे भी श्रेष्ठ हो सकती हैं। फिर

---

* गुजरातविद्यासभाकी अनुस्नातक विद्यार्थी-सभाके अध्यापकों और छात्रोंके समक्ष १९४७ के पहले सत्रमें दिया हुआ मंगल प्रवचन।—'बुद्धिप्रकाश' से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी मेरी पगडंडीसे मुझे तो आनन्द और स्थिरता मिल रही है। मुझे विद्यार्थी-जीवन चार विभागों अथवा भूमिकाओंमें विभाजित दिखाई देता है। प्राथमिकसे माध्यमिक तकका प्रथम विभाग, माध्यमिकसे उच्च शिक्षण तकका—बी. ए. अथवा स्नातक होने तकका—द्वितीय, अनुस्नातकका तृतीय और उसके बादका चतुर्थ।

हमारी प्रारंभिक शिक्षा शब्द-प्रधान और स्मृति-प्रधान होती है। इसमें सीखनेवाले और सिखानेवाले दोनोंकी समझने और समझानेकी प्रवृत्ति भाषाके साधनद्वारा होती है। इसमें सीधा वस्तु-ग्रहण नहीं होता। केवल भाषाद्वारा जो संस्कार पड़ते हैं वे स्मृतिमें पकड़ रखे जाते हैं। यहाँ मैं जिसे भाषा कहता हूँ उसमें लिखना, बोलना, पढ़ना और उच्चारण करना सब कुछ आ जाता है। इस प्रवृत्तिसे समझ और तर्कशक्ति विशेष उत्तेजित होती है, किन्तु वह अधिक अंशोंमें आयुपर निर्भर है।

उसके बादकी दूसरी भूमिका संज्ञान अर्थात् समझ-प्रधान है। विद्यार्थी जब कालेजमें प्रविष्ट होता है उस समय भी भाषा और शब्दका महत्त्व तो रहता है, किन्तु इस भूमिकामें उसे विषयको पकड़कर चलना पड़ता है। इसीसे पाठ्यक्रममें बहुत-सी पुस्तकें होनेपर भी वे सभी पूरी हो जाती हैं। यदि उसे वहाँ भी केवल स्मृतिका आधार लेकर चलना पड़े तो ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए वहाँ शब्द नहीं, अर्थका महत्त्व होता है। इस अर्थ-ग्रहणकी पद्धतिमें अन्तर हो सकता है किन्तु मुख्य वस्तुस्थिति इसी प्रकारकी होती है।

उसके बादकी भूमिकामें समझके सिवाय एक नया तत्त्व आता है। इसके पहलेकी भूमिकाओंमें शिक्षा, चर्चा, आलोचना इत्यादि सब दूसरोंकी ओरसे आता था और समझ लिया जाता था, किन्तु अब तृतीय भूमिकामें तारतम्य, परीक्षण-वृत्ति, किसी भी मतको अपनी बुद्धिपर कसकर देखनेकी परीक्षक-वृत्ति और भी शामिल हो जाती है। इस समय विद्यार्थी ऐसा कर सकनेकी उम्रमें पहुँच गया होता है। अतः पहले जिस पुस्तक अथवा अध्यापकको वह प्रमाण-भूत मानता था उसका भी विरोध करनेको तैयार हो जाता है।

इसके बादकी भूमिका पी० एच० डी० होनेके लिए की जानेवाली प्रवृत्ति है। शब्दप्रधान, समझप्रधान, विवेकप्रधान और परीक्षा-प्रधान विद्याध्ययनका उपयोग इस भूमिकामें होता है। इसमें जो विषय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चुना जाता है उसपर उस समयतक जितना काम हो चुका होता है, उस सबको समझकर और उपलब्ध ज्ञानको प्राप्त करके कुछ नई खोज करना, नई रचना करना, कुछ नई वृद्धि करना पड़ता है, पूर्वोक्त शब्द, स्मृति, संज्ञान और परीक्षाकी त्रिवेणीके आधारपर। इसमें किये हुए कामका परिमाण देखनेकी आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् पन्नोंकी संख्या नहीं देखी जाती, किन्तु उसकी मौलिकता, उसका आधिकार देख जाता है। उसकी नई खोज कभी कभी एकाध वाक्यसे भी प्रकट हो जाती है। अभिप्राय यह कि यह खोज और सर्जन शक्तिकी भूमिका है।

यहाँ एकत्र होनेवाले तीसरी और चौथी भूमिकावाले हैं। इस समय मैं डिग्री • चाहनेवालों या परीक्षा पास कर चुकनेवालोंका विचार नहीं करता। विद्यार्थियों और अध्यापकोंका भी मैं एक ही साथ विचार करता हूँ। फिर भी अध्यापकोंके विषयमें थोड़ा-सा कहना है। यों तो सच्चा अध्यापक हमेशा विद्यार्थी-मानसके साथ ताल मिलाता हुआ ही चलता है। किन्तु जिस समय वह विद्यार्थीकी संशोधन-प्रवृत्तिमें सहायक होता है उस समय जुदा ही रूप लेता है। इस कक्षामें अध्यापकको ऐसी ही बातें बतानी होती हैं जिनसे विद्यार्थीकी संशोधक-वृत्ति जाग्रत हो। अर्थात् अध्यापक प्रत्यक्ष शिक्षासे ही नहीं अपितु चर्चा, वार्तालाप, सूचना इत्यादिके द्वारा भी विद्यार्थीके मनमें कुछ नई चीज पैदा करता है। जिस प्रकार विद्यार्थी-जीवनकी चार भूमिकाएँ हैं उसी प्रकार अध्यापकके जीवनकी भी चार भूमिकाएँ गिननी चाहिए।

विद्यार्थी और अध्यापकका संबंध भी समझ लेने योग्य है। विद्याध्ययन दोनोंका सामान्य धर्म है। वास्तवमें अध्यापक और विद्यार्थी दोनों एक ही वर्गके हैं। केवल अध्यापकके पदपर नियुक्त हो जानेसे कोई अध्यापक नहीं होता, विद्यार्थीकी बुद्धि और जिज्ञासाको उत्तेजित करनेवाला ही सच्चा अध्यापक है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी और अध्यापकके बीच कोई ज्यादा तारतम्य नहीं है। फिर भी अध्यापकके बिना विद्यार्थीका काम नहीं चल सकता, जिस तरह रस्सीके बिना नाचनेवाले नटका। और यदि विद्यार्थी न हों, तो अध्यापक अथवा अध्यापनकी कोई संभावना ही नहीं हो सकती। वस्तुतः विद्यार्थीके सान्निध्यसे ही अध्यापककी आत्मा विकसित होती है, व्यक्त होती है। ज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी तभी स्पष्ट होता है। विद्यार्थी उसके पास आता है कुछ प्राप्त करनेकी श्रद्धासे। किन्तु श्रद्धा तभी सार्थक होती है, जब अध्यापक अपना उत्तरदायित्व समझता हो। इस प्रकार उच्च शिक्षाकी संस्थामें अधिकसे अधिक उत्तरदायित्व अध्यापकका होता है।

परन्तु केवल अध्यापकके उत्तरदायित्वसे ही विद्यार्थीका उद्धार नहीं हो सकता। जो अध्यापककी शरणमें आता है उसे स्वयं भी जिज्ञासु, परिश्रमी और विद्या-परायण होना चाहिए।

स्वयं अध्यापकका भी एक ध्येय होता है। उसे भी नवीन संशोधन करना होता है। विद्यार्थियोंको मार्ग बताते समय, सूचना देते समय और उनसे कार्य लेते समय उसकी खुदकी सूझका भी विकास होता है और उसके नेतृत्वको गति मिलती है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि अच्छा संशोधक हमेशा अपने आसपास विद्यार्थियोंका मंडल रखना चाहता है। इतना ही नहीं, उसके साथ कुटुम्ब जैसा व्यवहार रखता है। कलकत्तेमें और शान्तिनिकेतनमें मैंने ऐसे अध्यापक देखे हैं। ऐसे अध्यापकोंसे विद्यार्थी तो शंका या प्रश्न करके निश्चिन्त होकर घर जाकर सो सकते हैं किन्तु अध्यापककी तो अक्सर नींद ही उड़ जाती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यार्थीकी शंकाका समाधान करनेके लिए उसने जो उत्तर दिया है वह अधूरा है। पूर्ण संतोष-जनक उत्तर देनेपर ही उसे चैन मिलती है। जब विद्यार्थीको यह मालूम होता है तब अध्यापकके जीवनका रंग उसपर भी चढ़ जाता है।

विद्योपार्जनकी क्रिया वृक्ष जैसी होती है। सतत रस खींचते रहनेसे ही वह बढ़ता है और शाखा शाखा पत्र पत्रमें रस पहुँचा करता है।

लोग पूछते हैं कि क्या अहमदाबादमें संशोधन हो सकता है? प्रश्न ठीक है क्योंकि अहमदाबादका धन कुछ जुदा ही है। फिर भी इस धनकी विशेष इच्छा रखनेवाले भी विद्या-धनकी इच्छा रखते हैं। अहमदाबाद इस विषयमें अपवाद नहीं हो सकता। हम जिसका उपार्जन करते हैं वह भी एक धन है। उस धनको प्राप्तकर झोंपड़ीमें रहकर भी सुखी रहा जा सकता है। जो व्यक्ति निरलस उत्साही है, जिसे अपनी बुद्धि और चारित्रके विकासमें ही धन्यता दिखाई देती है उसके लिए विद्योपार्जन धन्य व्यवसाय है। हम सब इच्छासे अथवा अनिच्छासे इस व्यवसायमें ढकेले गये हैं, फिर भी इसका उपयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। अक्सर लोग पूछ बैठते हैं कि इसमें तुम क्या देखकर फँस गये? मैं उत्तर देता हूँ कि मुझे मरते समय विल (वसीयत) करनेकी जरूरत न पड़ेगी। और धनिक लोग भले ही अभिमान करें किन्तु विद्याधनवालों—विद्वानोंको—ढूँढ़े बिना उनका भी काम नहीं चल सकता। खुदके लिए नहीं तो अपनी सन्तानके लिए तो उन्हें विद्वानोंकी आवश्यकता होती ही है। यह मैं लक्ष्मी और सरस्वतीके विरोधकी बात नहीं कह रहा हूँ। विद्यार्थीके साधना-कालमें लक्ष्मीकी लालसा विघ्नरूप है। विद्याकी साधनामें यदि कोई विघ्न है तो वह धन है। निर्धन स्थान और गरीब कुटुम्बमें रहते हुए धनकी महत्त्वाकांक्षा जाग्रत नहीं होती। धनिकोंके संसर्गसे ही वह जागती है। इस लिए चतुर्थ भूमिकामें व्यक्त होनेवाली अपनी मौलिक साधनोंमें हमें इससे सावधान रहना चाहिए।

एक विघ्न और भी है। कई बार पिछली भूमिकाओंकी त्रुटियाँ भी आगेकी भूमिकाओंमें दिखाई देती हैं। उन्हें भी दूर करना चाहिए। मैंने अपने समयका सदुपयोग करनेवाले विद्यार्थी बहुत कम देखे हैं। उनका पुरुषार्थ परीक्षा-काल तक ही सीमित रहता है। इससे उनका आरोग्य भी नष्ट होता है। यह भूल दूसरी भूमिकामें बारबार देखी जाती है। परन्तु तृतीय और चतुर्थ भूमिकामें यह भूल कदापि नहीं होनी चाहिए। और यदि होती हो, तो उसे अपने प्रयत्नसे और विवेकसे दूर करना चाहिए। पहली दो भूमिकाओंकी भूलोंके लिए हम शिक्षकों, शिक्षा-पद्धति, समाज आदि किसीको भी उत्तरदायी समझें किन्तु तृतीय भूमिकामें तो विद्यार्थीको स्वयं ही उत्तरदायी बनना पड़ेगा। और चतुर्थ भूमिकामें तो यह भूल निभ ही नहीं सकती। इसे दूर करना ही पड़ता है।

इस भूमिकामें आप और मैं सभी हैं। यह मंगल अवसर है, मंगल जीवन है। नये घरमें वास, विवाह, परदेश-प्रयाण आदिमें कोई खास समय मंगलमय माना जाता है, परन्तु विद्यार्थी-जीवनका तो प्रत्येक क्षण मांगलिक है:—उसकी चर्चा, वाचन, शोधन, सूक्ष्ममें मांगल्य उमड़ता है। पहली तीन भूमिकाओंके तो वर्ष भी नियत हैं किन्तु चतुर्थ भूमिकामें इसका भी बंधन नहीं। यह तो सदा मंगल है।

अनु०—मोहनलाल मेहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org